सैय्यिदुल उलमा के ख़ुतबे (6)

हज़रत इमाम हुसैन अ० ने मशवेरा देने वालों का कहना क्यों नहीं माना?

अगर वाक़िअ-ए-कर्बला न होता तो क्या होता?

सैय्यिदुल उलमा ताबा सराह की यह तक़रीर 10 अप्रैल 1955ई० को सुबह साढ़े दस बजे से 11 बज कर 55 मिनट तक लाहौर के अज़ीमुश्शान इजलास "हुसैन डे" में हुई।

1361हि० के बैनुलअक़्वामी इज्तेमाआत के बाद जो हर-हर शहर, हर-हर क़स्बे, हर-हर देहात में हुए थे और जिनमें से हर इज्तेमाअ में क़ौम और मज़हब के लोग शरीक हुए थे कम से कम मेरे लिये और मेरे साथियों के लिये जो देहली या लखनऊ से आए हैं या उस ज़माने में वहाँ के रहने वाले थे लाहौर का यह मुज़ाहेर-ए-हुसैनियत कोई हैरत वाली या ग़ैर मामूली बात नहीं। मगर याद रखिये कि जितनी बीमारी सख़्त होती है दवा का असर उतना ही ज़्यादा नज़र आता है वह 1361हि० था और आज 1374हि० है इस ज़माने के हालात में ज़मीन और आसमान का फ़र्क़ हो गया। इस बीच जो ज़लज़ले, आँधिया और सैलाब आए जिन्होंने ज़मीन और आसमान बदल दिया और इन हालात में यक़ीनन लाहौर का जलसा ख़ास अहमियत रखता है और एक तरह का नया तजुरबा है जो लोगों के सामने आया है।

1361हि० में दिलों के आब गीनों में बाल पड़े थे मगर उनके परख़्चे न उड़े थे और चोटें आयीं थीं मगर ज़ख़्म नहीं थे। हमारे ख़यालों की सिम्तें (दिशाएं) अलग-अलग हुई थीं लेकिन जिस्म जुदा-जुदा न हुए थे मगर 1374हि० में जबकि लाहौर में आज ये अज़ीमुश्शान इज्तेमाअ हुआ है वह वक़्त है कि जब हालात ने ऐसा अज़ीम तफ़रक़ा डाल दिया कि मुल्क का क्या ज़िक्र घराने और घर बंट गये। बहुत से भाई से भाई, बाप से बेटा, शौहर से बीवी, बहन से भाई की जुदाई हो गई। इस दौर में हुसैनियत का यह अजीब तजरबा है जो इन्सानियत के सामने पेश हो रहा है और यह साबित कर रहा है कि बड़े-बड़े इन्क़ेलाबों के बाद जब हुसैनियत का परचम खुल जाता है तो मज़हबों का फ़र्क़ और क़ौमों और मुल्कों का इम्तियाज़ मिट जाता है और हिन्दुस्तान और पाकिस्तान हो जाते हैं।

1361हि० से ज़्यादा आज का यह तजरबा काम आने वाला और फ़ायदेमन्द है इसलिए कि उस वक़्त हम एक ऐसे निज़ाम के तहत गिरफ़्तार थे कि दुनिया में हमारी आवाज़ असर नहीं रखती थी और दुनिया के बैनुलअक़्वामी मजालिस में अवाज़ बलन्द करने से हम घबराते बल्कि शरमाते थे मगर अब जबकि हम आज़ाद हो चुके हैं तो हम यह हक़ रखते हैं कि बैनुलअक़्वामी हालात में अपने इस पैग़ाम को पहुँचा सकें।

आज हम अपने-अपने मुल्क में आज़ाद हो चुके हैं और हम में से हर एक अपने अपने ज़रियों का ख़ुद मालिक है। दुनिया की क़ौमों में कम से कम क़ानूनी तौर पर दूसरों के साथ आलमी मसाएल के हल के लिए हम बराबर से बैठते हैं बल्कि कुछ जगह हम तीसरा फ़रीक़ बन कर मसलों को हल करते हैं और दुनिया हमारे सामने अपने मसलों को पेश करती है तो यह जल्सा एक तजुरबे की जगह है। इसकी कामयाबी के बाद मैं उस मुस्तक़बिल को देखता हूँ जबकि पाकिस्तान और हिन्दुस्तान दोनों के बड़े आलिम हुसैनियत के साये में आलमी मसाएल को तय करें और शायद आगे चल कर वह हालात पैदा हों कि "हुसैन डे" का यह जल्सा दुनिया के किसी और बड़े मरकज़ में किया जाये चाहे अमरीका में हो चाहे यूरोप में चाहे रूस वग़ैरा में और फिर उस हुसैनियत के मरकज़ से बैनुलअक़्वामी दुख दर्द का इलाज

किया जाये।

याद रखिये कि आज कोई ताजदार, मुल्कों का फ़ातेह ऐसा नहीं सोचा जा सकता जिसका नाम क़ौमों और मिल्लतों को गले मिला दे चाहे वह कितने ही जाह और जलाल का मालिक हो मगर कर्बला के तड़पते हुए लाशे, बहता हुआ ख़ून और नेज़ों पर बलन्द होने वाले सर आज दुनिया को एक मरकज़ पर ले आ सकते हैं समझे आप अहलेबैत[अ०] का निज़ाम।

दुनिया ने मुल्कों की जीतों को कामयाबी की दलील समझा लेकिन अहलेबैत[अ०] ने दिलों के जीतने को अस्ल जीत की दलील समझा। मुल्कों के जीतने वाले ख़त्म हो गये लेकिन दिलों के जीतने वाले उसी तरह ज़िन्दा हैं।

याद रखिये यह जीत का राज़ वह था जिसे हुसैन[अ०] को मश्वरा देने वाले नहीं समझे थे लेकिन हज़रत इमाम हुसैन[अ०] इस राज़ को जानते थे। मश्वरा देने वालों ने हज़रत इमाम हुसैन[अ०] को राय दी कि आप कर्बला न जाइये मगर इमाम ने मश्वरा देने वालों का कहना ना माना तो क्या यह बुरा किया? पैग़म्बरे इस्लाम[स०] ने अपने मश्वरा देने वालों का कहना कब माना। किसी और का क्या कहना सगे चचा का कहना न माना।

यह मश्वरा देने वाले माद्दी मुस्तक़बिल समाने रखते थे और आज के मश्वरा देने वालों का हवाला देने वाले भी वही दिमाग़ रखते हैं बेशक वह छोटी नज़र से देखने में मर गये, मिट गये बर्बाद हो गये। गोद के बच्चे तक शहीद हो गये औरतें क़ैद हो गयीं यह सब मश्वरा देने वालों का कहना न मान कर हुआ मगर पैग़म्बरे इस्लाम[स०] ने भी तो मश्वरा देने वालों का कहना ना मान कर दुख ही उठाये।

यह न देखिये कि 13 साल के बाद हिजरत हुई और अन्सार मिले लेकिन हिजरत से पहले 13 साल अल्लाह के रसूल[स०] ने क्या किया? दुख नहीं सहे, जिस्म पर पत्थर नहीं खाये, मुबारक सर पर कूड़ा-करकट नहीं फेंका गया? यह सब कुछ हुआ। शेबे अबी तालिब में 3 साल क़ैद रहे यह ज़माना इतना सख़्तियों से भरा हुआ था कि कई-कई वक़्त न खाना मिलता न पानी। अक्सर दरख़्तों के पत्ते खा-खा कर गुज़र की जाती थी। इन्हीं तकलीफ़ों का असर था कि मुहासरे से बाहर आने के बाद कुछ ही महीने हज़रत ख़दीजा और अबूतालिब दोनों की वफ़ात हो गई जिनकी बुनियाद पर अल्लाह के रसूल[स०] ने इस साल का नाम आमुल हुज़्न रख दिया यह सब कुछ कहना न मानने ही का नतीजा तो हुआ।

अब दुनिया बताये कि उन्होंने अच्छा किया या बुरा किया और इसका क्या नतीजा हासिल हुआ। फिर अगर पैग़म्बरे इस्लाम[स०] का मश्वरा देने वालों के मश्वरे को ठुकरा देना ठीक था तो हज़रत इमाम हुसैन[अ०] ने भी अगर मश्वरा देने वालों का कहना न माना तो क्या बुरा किया?

तारीख़ की किताबों में मश्वरा देने वालों का बहुत बयान है मगर किसी कमज़ोर रिवायत में भी यह बात न मिलेगी कि किसी मुशीर ने यह राय दी हो कि आप यज़ीद की बैअत कर लीजिये। मश्वरे इस तरह के थे कि इराक़ न जाइये, ताएफ़ तश्रीफ़ ले जाइये, यमन चले जाइये, मक्क-ए-मुअज़्ज़मा में ठहर जाइये लेकिन किसी ने कभी यह नहीं कहा कि आप यज़ीद की बैअत कर लीजिये।

इसके ये माने हुए कि यज़ीद की बैअत करना इमाम हुसैन[अ०] के लिये सब ही के नज़दीक नामुमकिन या न समझ में आने वाली बात थी। अब बैअत न करने के बाद जिन जगहों के बारे में मश्वरा दिया जा रहा था उनमें से कोई भी क्या ऐसी थी जो यज़ीद की हुकूमत से बाहर हो। इसलिए नतीजा यही था कि यज़ीद की तरफ़ से फ़ौजी चढ़ाई हो। पण्डित व्यास देव मिश्रा का वह जुम्ला कितना पसन्दीदा है जो आप ने अपनी तक़रीर के बीच में कहा कि अब सवाल सिर्फ़ मक़तल के चुनने का था। इमाम हुसैन[अ०] की शहादत तो यक़ीनी थी ही अगर मदीने में रहते तो इस तरह होता जैसे हज़रत इमाम हसन[अ०] के साथ हुआ। उसी तरह मक्का में होते तो भी किसी ख़ुफ़िया तरीक़े से ख़ात्मा कर दिया जाता।

इमाम हुसैन[अ०] का मक्का छोड़ना किन हालात में था उसको यूँ समझिये कि जो फ़ितरत के ख़िलाफ़ अमल हुआ उसे ज़रूर ग़ैर मामूली वजहों का नतीजा मानना पड़ेगा। वह हुसैन[अ०] जो 25 हज पैदल हर चुके हों और हज की इतनी चाहत रखते हों कि मदीने से आ-आ कर हज करते हों इस तरह सवारी के साथ खाली जा रहे हों और अपने पैरों पर जा रहे हों क्या इतना इबादत का शौक़ रखने वाले हुसैन[अ०] को मक्के से आज वह ताल्लुक़ न था जो मुसलमानों को ख़ान-ए-काबा से होता है उनका ताल्लुक़ काबे के साथ मज़हबी ताल्लुक़ के अलावा ख़ानदानी ताल्लुक़ था वह उनके बाप की पैदाइश का मक़ाम भी था। फिर ख़याल तो कीजिये कि पैग़म्बरे

इस्लाम[स०] का नवासा और एक दिन हज का बाक़ी रहते हुए वहाँ से सफ़र कर रहा है जबकि तमाम मुसलमान मक्का की तरफ़ हज करने जा रहे हैं वह वहाँ मक्का छोड़कर निकल रहे हैं और रास्ते में क़ाफ़ले वाले हैरत से पूछते हैं कि इमाम इस वक़्त किधर जा रहे हैं। और हर शख़्स का सवाल फ़रज़न्दे रसूल[स०] के दिल पर तीर का काम कर रहा है। हर एक से कहाँ असली बात बताते। किसी-किसी से कह भी दिया कि अगर मैं निकल न खड़ा होता तो क़त्ल हो जाता या गिरफ़्तार हो जाता इसलिये कि हाजियों के भेस में सिपाही भेजे गये थे कि जब और जहाँ इमाम मिलें उन्हें शहीद कर दिया जाये।

इन ज़ालिमों के लिये जब वह हुरमत वाले न थे तो हुरमत वाला शहर उनके लिये हराम कहाँ हो सकता था जब उनको वक़्त की हुरमत का ख़याल न था तो जगह का एहतेराम कहाँ करते।

आज दुनियावी सियासत की नज़र ने इस मामले को देखिये कि अगर कहीं मक्का में तवाफ़ या सई की हालत में या नमाज़ में कोई शख़्स आकर शहीद कर देता तो फ़रज़न्दे रसूल[स०] शहीद हो जाते लेकिन आज तक दुनिया को यह न मालूम हो सकता कि क़ातिल कौन है।

इतिहास के पन्नों पर आज यह मामला साफ़ है कि हज़रत इमाम हुसैन[अ०] बिल्कुल बेजुर्म थे और उनका क़ातिल यज़ीद था लेकिन अगर रसूल[स०] के फ़रज़न्द इस सूरत में शहीद हो जाते तो इमाम का क़ातिल छुप कर ज़िन्दा रहता मगर इमाम हक़ीक़ी मानों में क़त्ल हो जाते और आपका मक़सद भी आप के साथ ही क़त्ल हो जाता।

क्या इमाम को मश्वरा देने वाले इतनी समझ रखते थे जो इन नतीजों को सामने रख कर मश्वरा देते? उनमें कुछ अस्ली हमदर्द थे और कुछ नुमाइशी तौर पर भलाई कर रहे थे जो सियासत की मातहती में हमदर्द बन रहे थे मगर सबके मश्वरे सिर्फ़ वक़्ती हालात की बुनियाद पर जज़्बात से असर लेकर दिये गये थे। मगर इमाम हुसैन[अ०] जज़्बात से बलन्द थे क्योंकि जज़्बात से बलन्द हस्ती का नाम ही मासूम है। और उन्होंने मश्वरों की मुख़ालेफ़त करके अपना जज़्बात से बलन्द होना दिखा दिया और साबित कर दिया कि उन्होंने जज़्बात से किसी तरह असर नहीं लिया।

कहा जाता है कि कर्बला का वाक़िआ इतनी अहमियत क्यों रखता है या इसको अहमियत क्यों दी जाती है **अगर यह वाक़िआ न होता तो क्या होता?** मगर अब जबकि वाक़िअ-ए-कर्बला हो चुका मैं क्या बताऊँ कि न होता तो क्या होता। जिसने अन्धेरा देखा न हो और दिन ही को आँख खोली हो वह पूछे कि सूरज न होता तो क्या होता तो उसे किस तरह बताया जा सकता है।

इमाम ने जो क़ुर्बानी पेश की हमने उसकी बरकत के साये में आँख खोली है आप ने हक़्क़ानियत का ऐसा सूरज चमकाया जो कभी डूबने वाला नहीं इसलिए अब कोई क्या समझे कि वाक़िअ-ए-कर्बला न होता तो क्या होता। यह कहना ऐसा ही है जैसा कोई कहे कि ख़ुदा न होता तो क्या होता ज़ाहिर है कि ख़ुदा न होने से तजरबा ही किसी को नहीं हो सकता। क्यों ख़ुदा हमेशा से है मैं तो समझता हूँ कि वाक़िअ-ए-कर्बला न होता तो यह जो कुछ है कुछ भी न होता हमारी दीनी ज़िन्दगी जिसको दूसरे लफ़्ज़ों में मैं इन्सानी ज़िन्दगी कहूँगा। और शरीफ़ाना बाशऊर बा इज़्ज़त और ख़ुददार ज़िन्दगी इस सबका कुछ पता न होता, अज़ानें न होतीं, अक़ामत न होती, नमाज़ न होती, रोज़ा न होता, हज न होता, क़ुरआन न होता, अख़लाक़ न होता, एहसास न होता, तमद्दुन न होता, तहज़ीब न होती बराबरी और भाईचारगी न होती, आज़ादी न होती, शहादत का शौक़ न होता, हक़्क़ानियत न होती, और हक़ परस्ती न होती अब इसके बाद मैं क्या बताऊँ कि वाक़िअ-ए-कर्बला न होता तो क्या होता मगर अभी तक तो यह दावा ही दावा मालूम होता है इसके सुबूत के लिये मैं कहूँगा यह देखिये कि वाक़िअ-ए-कर्बला न हुआ था तो क्या हो रहा था और ख़ुदा की क़सम जो हो रहा था वह ऐसा है कि अब यक़ीन मुश्किल से आता है कि यह हो रहा था।

जिस पैग़म्बर[स०] ने यह नमूना पेश किया हो कि दीन और दुनिया की हुकूमत पैरों में रखते हुए कई-कई वक़्त पेट पर पत्थर बाँधा और खाना न खाया हो और जिस पैग़म्बर[स०] ने हमें यह नमूना दिखाया हो कि वह इज़्ज़तदार बेटी जिसकी ताज़ीम के लिए आप खड़े हो जाते हों, यानी फ़ातिमा ज़हरा[स०] अपनी जगह तो उनकी यह इज़्ज़त थी मगर जब उन्हें कनीज़ अता करते हैं तो कनीज़ के साथ बराबरी का इतना ख़याल फ़रमाते हैं कि बेटी! घर का सारा काम काज फ़िज़्ज़ा पर ना डालना बल्कि एक दिन घर का काम ख़ुद करना और एक दिन फ़िज़्ज़ा से लेना चुनानचे बेटी ने ऐसा ही करके दिखा दिया कि एक दिन

फ़िज़्ज़ा खाना पकातीं और काम काज करती और हज़रत फ़ातिमा[स०] आराम फ़रमातीं और दूसरे दिन हज़रत फ़ातिमा[स०] घर का काम करतीं और फ़िज़्ज़ा आराम करतीं। लोग कहते हैं कि ग़ुलामी को ख़त्म क्यों न कर दिया? अगर ऐसा होता तो ग़ुलामी का मेयार अपनी जगह ही रहता। आले रसूल[स०] ने बताया कि यह तो आपसी मदद के ज़रिये हैं। आक़ा ग़ुलाम शौहर बीवी वग़ैरा। यह रिश्ते घर के लोगों में गिने जाने का ज़रिया हैं। इनको ख़त्म करने की ज़रूरत नहीं। मगर ज़हनियत बदलने की ज़रूरत है आज जब छोटे भाई से यह सुलूक किया जाता है कि कहते हैं-

''सग बाश बरादरे ख़ुर्द मबाश''

तो हमारी इस तहज़ीब में ग़ुलाम बाँदी के साथ अच्छा सुलूक कहाँ होगा। मगर यह ग़लती हमारी तहज़ीब की है आले मुहम्मद[स०] के ग़ुलामों और बाँदियों से पूछो कि तुमको आज़ाद होना मन्ज़ूर है या ग़ुलाम रहना। आज की आज़ादी हज़ार ग़ुलामी से बदतर और वह ग़ुलामी रश्के ताजदारी थी वह फ़ातिमा ज़हरा[स०] का पैग़म्बर[स०] की हिदायत के मुताबिक़ सुलूक अपनी कनीज़ फ़िज़्ज़ा के साथ और इसी तरह हज़रत अली[अ०] का सुलूक अपने ग़ुलाम क़म्बर के साथ उस वक़्त नहीं जबकि आप ख़ाना नशीन थे बल्कि उस वक़्त जब कि आप शहंशाह माने जा रहे थे ऐसे वक़्त क़म्बर के साथ जो सुलूक आपने दिखाया कि बाज़ार से दो कपड़े ख़रीदे एक सात दिरहम का दूसरा पाँच दिरहम का। पहला कपड़ा अपने ग़ुलाम क़म्बर को हज़रत ने अता फ़रमाया और पाँच दिरहम वाला ख़ुद पहना। क़म्बर अर्ज़ करते हैं कि हुज़ूर! ये कुछ बेहतर है। इसे आप पहनिये। हम में से आज का कोई आदमी पहले तो ऐसा करता ही क्यों। अगर कोई लीडर ऐसा कर भी देता तो जब कंबर ने अर्ज़ किया था कि हुज़ूर ये बेहतर है आप पहन लें तो फ़ौरन अपनी मुस्लेहाना हैसियत का अलम ऊँचा कर देता वह जवाब में एक तक़रीर कर देता कि क़म्बर में दुनिया से इस फ़र्क़ को ख़त्म करना चाहता हूँ मैं दुनिया के ग़ुलामों का मेयार बलन्द करना चाहता हूँ वग़ैरा-वग़ैरा।

लेकिन हज़रत अली[अ०] ने ये जवाब नहीं दिया हालांकि सामने यही था लेकिन क़म्बर से अगर ये फ़रमाते तो इस जवाब में नाबराबरी छुपी थी इस इरशाद से क़म्बर को ग़ुलामी का एहसास हो जाता आप क़म्बर को ऐसा जवाब देते हैं जैसा अपने बच्चों को दिया जाता है कि तुम जवान हो तुम पर ये कपड़ा अच्छा लगता है।

पैग़म्बरे इस्लाम ख़ुद जिस तरह की तरबियत मुसलमानों की करना चाहते थे वह इस वाक़िए से भी ज़ाहिर है कि हज़रत के पास सफ़ में एक रईस ख़ाली जगह पाकर बैठ जाते हैं कि इतने में एक ग़रीब पुराने कपड़ों वाला जो आदाबे नबवी का आदी है आकर उस रईस के पास बैठ जाता है रईस साहब ने अपने मेयारे तबीयत के लेहाज़ से बहुत अख़्लाक़ से काम लिया बहुत सब्र से काम लिया अपना दरबार होता तो शायद ये उसको डांट डपट कर निकाल देते और बदतमीज़ कह देते।

मगर वह पैग़म्बर का दरबार था यहाँ यह मुमकिन न था फ़िर भी फ़ितरी तौर पर सोंच का मुज़ाहेरा इस तरह हो गया कि रईस ने अपने कपड़े समेट लिये। पैग़म्बरे इस्लाम[स०] ने इतना भी पसन्द न किया और ख़ल्के अज़ीम की तेवरियों पर बल आ गये और फ़रमाया यह तुम ने क्या किया? क्या इस की ग़रीबी तुम में आ जाती या तुम्हारी रियासत इसको मिल जाती या चली जाती दामन क्यों समेटा?

मुरब्बिये आज़म की इस तम्बीह का इतना असर हुआ कि वक़्ती तौर पर उसका ज़मीर शर्मिन्दा हुआ। और अर्ज़ की ऐ अल्लाह के रसूल! इस गुनाह के कफ़्फ़ारे में मैं अपनी आधी दौलत इस ग़रीब भाई को देता हूँ। मुस्कुराते हुए हुज़ूर[स०] ग़रीब की तरफ़ मुतवज्जेह हुए कि यह आधी दौलत की पेशकश तुमको मन्ज़ूर है? ग़रीब सहाबी ने जवाब में अर्ज़ किया कि इसे शुक्रिये के साथ वापस करता हूँ। हुज़ूर[स०] ने फ़रमाया कि यह ख़ुशी से दे रहा है। उसने अर्ज़ किया मुझे डर है कि यह ज़हनियत कहीं मुझ में न पैदा हो जाए।

अख़लाक़ की किताबों में सिर्फ़ नुमाइश के तौर पर लिख देना आसान बात है लेकिन जीती जागती अमल की दुनिया में इतने कम वक़्त में उसको सामने लाना बड़ी मुश्किल बात है। पैग़म्बरे ख़ुदा[स०] ने हर तालीम को अमल की सूरत में दुनिया के सामने ज़िन्दा मिसाल की शक्ल में पेश कर दिया कि मेरा निज़ाम सिर्फ़ ज़हनी या दिमाग़ी नहीं बल्कि अमली है वह ज़िन्दा निज़ाम है जो सीरत और किरदार की शक्ल में आँखों के सामने आता है। मेरा क़ानून लफ़्ज़ी नहीं बल्कि बिल्कुल अमली है।

यही वजह है कि अल्लाह किताब के साथ अहलेबैत

की ज़रूरत हुई और इरशाद हुआ:- *'मैं तुम्हारे बीच दो गराँक़द्र चीज़ें छोड़कर जा रहा हूँ अल्लाह की किताब और मेरे अहलेबैत'* और इसी लिये अहलेबैत[अ०] को मुबाहले के मैदान में अपने साथ ले गये थे मेरा अक़ीदा है और मेरे नज़दीक हर मुसलमान का यही अक़ीदा होना चाहिए कि रसूल[स०] की दुआ किसी की आमीन की मुहताज न थी बल्कि उनमें से हर एक की दुआ अकेले काफ़ी थी, मगर ख़ालिक़े अकबर ने नबी[अ०] को हिदायत फ़रमाई की इन सबको साथ ले जाओ मंज़िले मुबाहला में।

इसलिए कि जब सच्चे और झूटे लोगों में मुक़ाबला हो रहा है तो दुनिया जान ले कि ख़ालिस सच्चे लोग ये हैं और जब रिसालतमॉब दुनिया से उठ जायें तो जो काम आपके बाद इनसे लिया जाना है वह ज़िन्दगी ही में उनसे ले लिया जाये। इसलिए इस्लाम की मदद के लिए आज उनको साथ लिया और शरीके कार बनाया। मुबाहले के इस शरीके कार होने में सबसे कमसिन हुसैन[अ०] थे और रसूल[स०] ख़ुद अपनी गोद में ले गए थे। अल्लाह के रसूल[स०] की निगाह माज़ी के आइने में मुस्तक़बिल का नक़्शा देख रही थी कि उसी हुसैन[अ०] की क़ुर्बानी की दुनिया को ज़रूरत पेश आयेगी। चुनानचे 61[हि०] में वह पेश आ गई ये अहलेबैत[अ०] दुनिया में इसी लिये छोड़े गये थे और इनकी पहचान मुसलमानों से इसीलिए कराई गई थी कि यह इस्लामी तहज़ीब की ज़िन्दा तस्वीर थे क्या हैरत की बात नहीं है कि जिन मुसलमानों की तरबियत इस मेयार पर की जा रही हो। उन मुसलमानों में सिर्फ़ पचास साल बाद ही यह वक़्त आ गया कि इस्लामी राजधानी में रेशमी पर्दे लटक रहे हों और ग़ुलाम ज़र्रीन कमरबन्द लगाये हुए बादशाह के सामने खड़े हों और दरवाज़ों के ऊपर पहरे लगे हों ताकि किसी ग़रीब की पहुँच न हो सके और किसी मज़लूम की फ़रियाद उसके कानों में पहुँचना नामुमकिन हो जाए यही नहीं बल्कि बादशाह के सामने सोने चाँदी के बर्तनों में पानी पिलाया जा रहा हो।

यह सब बातें यज़ीद से पहले हो चुकी थीं और अगर कोई सहाबी जैसे एबादा बिन सामित वग़ैरा टोकते भी थे तो उनको क़दामत पसन्द होने की सनद मिलती थी याद रखिये यही हालात तरक़्क़ी करके यज़ीद के किरदार के दर्जे तक पहुँची यज़ीद से पहले सोने चाँदी के बर्तनों में पानी पिया गया जो बर्तन के एतेबार से इस्लामी शरीअत में हराम है तो यज़ीद के यहाँ शीशों के जामों में शराब पी जाने लगी और शराब के दौर चलने लगे अब बजाए तकबीर की आवाज़ों के नाच गाने और शराब की आवाज़ें बलन्द हो रही थीं रंग बिरंग की महफ़िलों में नमाज़ का वक़्त आकर गुज़र जाता लेकिन महफ़िल की रौनक़ में कुछ फ़र्क़ न आता।

ग़ज़ब यह है कि यह सब कुछ रसूल[स०] की जानशीनी के नाम पर हो रहा हो और सब मुसलमान दरबारी वग़ैरा मान रहे हों और यह होना इतना हैरत वाला नहीं जितना आम तौर पर मुसलमानों का मानना यानी यह सब कुछ हो रहा हो और मुसलमान इस हाकिम को रसूल का ख़लीफ़ा मान रहे हों। आज का मुसलमान ज़रूर हैरत से यह पूछेगा कि क्या मुसलमान उसको मान रहे थे?

जी हाँ सब मान रहे थे अगर सब न मान रहे होते तो तारीख़ गिनकर क्यों बताती है कि फ़लां-फ़लां ने नहीं माना। तारीख़ का गिनना बता रहा है कि और सब मान रहे थे। रसूल[स०] की वफ़ात के 50 साल बाद ही मज़हबी एहसास का यह हाल हो चुका था। और 61[हि०] से अब तक तेरह सौ तेरह साल हो चुके हैं मगर जबकि आम तौर पर एहसास किया जा सकता है कि इस्लाम घटता चला जा रहा है और तहज़ीब व तमद्दुन की हदें बर्बाद हो रही हैं मगर 60[हि०] के मुक़ाबले में इस वक़्त भी हालत बेहतर है और यह मजमा कम नहीं मैं इसी मजमे से शहर और देहात से आए हुए तमाम लोगों से पूछता हूँ कि क्या इनमें से कोई एक भी यज़ीद ऐसे शख़्स को रसूल[स०] का जानशीन मान सकता है?

आज के जाहिल से जाहिल और फ़ासिक़ व फ़ाजिर मुसलमान से भी पूछा जाये तो यज़ीद ऐसे आदमी को रसूल[स०] का जानशीन न मानेगा। लेकिन अल्लाह के रसूल[स०] की वफ़ात के 50 साल बाद लोग मान रहे थे। क्या इसके बाद भी किसी सुबूत की ज़रूरत है कि वाक़िअ-ए-कर्बला न होता तो क्या होता?

(चारों तरफ़ से नारों की अवाज़ बुलन्द हुई)

ज़ुल्म फ़िस्क़ फ़ुजूर से यह नफ़रत क्योंकर पैदा हुई। यह वाक़िअ-ए-कर्बला का फ़ैज़ है आज का यह जलसा और इस तरह की तमाम यादगारें इस असर को ज़िन्दा रखने के लिए हैं। इसी लिये अज़ादारी होती है और इसी लिये नामे हुसैन[अ०] की यह तकरार की जाती है।

अब भी सवाल होगा कि हुसैन[अ०] ने मश्वरा देने

वालों का कहना क्यों न माना और यह कि आप यज़ीद की बैअत कर लेते तो क्या हरज था। मैं कहूँगा कि वह हुसैन[अ०] न होते जो मान लेते कोई और होता। हुसैन[अ०] तो कभी शर्मिन्दा नहीं हुए कि मुशीरों का कहना क्यों न माना हुसैन[अ०] के साथ वाला भी कोई शर्मिन्दा न हुआ। कोई बच्चा हुसैन[अ०] के साथ का शर्मिन्दा न हुआ। और उधर कोई और क्या खुद यज़ीद मलऊन शर्मिन्दा हुआ मगर याद रखिये इस फ़र्क़ को कि वह ज़िन्दगी की शरमिन्दगी ज़मीर का नतीजा न थी जिसे तौबा समझा जा सके बल्कि वह एहसासे शिकस्त का नतीजा थी अब इस ख़याल से कि मेरे बाद वाले बोलने वालों पर ज़ुल्म होगा और मुझे खुद जल्से के मफ़ाद का भी एहसास है इसलिए अपनी तक़रीर को इस दुआ पर ख़त्म करता हूँ कि ख़ुदा करे जिस तरह आज के जल्से में जिस्म एक हो रहे हैं उसी तरह हमारे दिल और दिमाग़ भी एक जो जाएं और हुसैनियत का झण्डा ख़ुदा करे बराबर लहराता रहे और पूरब से पच्छिम तक को अपने साये में ले ले।

■■■

बक़िया.............इस्लाम और कर्बला

उनसे बहुत ही पस्त है जो तीन दिन की भूख और प्यास में क़त्ल किया गया हो। अकेले मुसीबतें बर्दाश्त करने वाला उसके मुक़ाबले में कहाँ आ सकता है जिनसे पहले अपने दोस्त फिर रिश्तेदार फिर बहन भाई की औलादें फिर अपने भाई और फ़ौरन उसके बाद अपने नौजवान बेटे और आख़िर में अपने छः महीने के बच्चे को दीन व मज़हब की हिफ़ाज़त पर क़ुर्बान कर देने के बाद ऐसे ज़ुल्म व सितम और तीर, नेजा, तलवार, गुर्ज़, पत्थर और आग से ज़ख़्मी होकर शहादत की मन्ज़िल हासिल की हो।

वह जिसे अपने माल के लुट जाने और अहलो अयाल के असीर होने, क़ैद होने का कोई डर न हो हरगिज़ उसके बराबर नहीं हो सकता। जो यक़ीन रखता हो कि मेरे बाद मेरा तमाम माल व अस्बाब लुट जायेगा। मेरे अहले हरम बेपर्दा किये जायेंगे। क़ैद होंगे क़ैद होकर दर-दर फिराये जाएंगे। इन्सान अपनी ज़ात के वास्ते हर चीज़ बर्दाश्त कर लेता है और बर्दाश्त कर सकता है। लेकिन जहाँ से औलाद का सवाल आ जाए वहाँ क़दम जमाए रखना लाख दो लाख ही से शायद एक ही निकल सके। और अगर इसके साथ घर वाले उसरत व इफ़्फ़त अहले हरम की असीरी और क़ैद व बन्द का सवाल पैदा हो तो कोई ग़ैरतदार शायद बिना मजबूरी के इसे बर्दाश्त नहीं कर सकता।

आज तो ग़ैर नहीं खुद मुसलमान ही बेपर्दगी के शैदा हैं। और उनकी बीवियाँ, बहुवें, बेटियाँ, मुँह खोले बाज़ारों में घूम रही हैं और किसी बाहया के कान पर जूँ नहीं रेंगती मगर ग़ैरतदार मुसलमान बल्कि मोमिन। बल्कि इमाम व मासूम जिसके घर वालों को खुले सरचश्मे फ़लक ने भी न देखे हों। उसके घर वालों को बेपर्दा होना वह सख़्त मुसीबत है जो बर्दाश्त के बाहर है। फिर इन तमाम चीज़ों के बाद ग़रज़ की पस्ती व बुलन्दी, ख़ुद ग़रज़ी और ख़ुलूसे नियत का फ़र्क़ भी हर शहीद को बराबर नहीं क़रार दे सकता, जो दुनिया के लिये क़त्ल हो जाये इसकी शहादत कोई शहादत नहीं और जिसमें ख़ुद ग़रज़ी, नफ़्स परस्ती की झलक है, वह इसके मिस्ल हरगिज़ नहीं हो सकता जो सिर्फ़ ख़ुदा की इताअत और दीन व मज़हब के लिये हर मुसीबत और हर सख़्ती बर्दाश्त करके शहादत की मन्ज़िल से सब्र व इस्तेक़लाल के साथ गुज़र जाए। तारीख़ की मुकम्मल तलाश और जुस्तजू के बाद आज तक एक भी ऐसा शहीद पेश न कर सकी जिसमें एक साथ एक ही वक़्त में वह तमाम शर्तें मौजूद हों जो ऊपर ज़िक्र की गईं।

और जो सब के सब बल्कि ऐसे भी बहुत ज़्यादा मुकम्मल सैय्यिदुश्शोहदा, इमामे मज़लूम व मासूम रसूले अरबी के नवासे हुसैन[अ०] इब्ने अली[अ०] भी मौजूद थे। और न आगे क़यामत तक हो सकते हैं बल्कि यूँ कहना चाहिए किः- इस लिये यह कहना बिल्कुल ग़लत है कि-

इस्लाम ज़िन्दा होता है हर कर्बला के बाद -

इब्तिदा-ए-ख़िलक़ते आलम से ता रोज़े क़याम
कर्बला बस एक थी और एक ही रह जायेगी
जब कोई मुरसल न होगा न अली[अ०] न फ़ातिमा[स०]
मिस्ले शाहे कर्बला[अ०] दुनिया कहाँ से लायेगी

■■■